विज्ञान की प्रकृति

अरविन्द कुमार

विज्ञान की प्रकृति को समझना अब व्यापक रूप से विज्ञान की शिक्षा से प्राप्त हुए ज्ञान की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि की तरह देखा जाता है। इस लेख में हम स्कूली विज्ञान शिक्षा के पाठ्यक्रम में, 'विज्ञान की प्रकृति' को शामिल करने के तर्काधार, उसके विकसित हो रहे दृष्टिकोणों और इस विषय को सीखना सम्भव बनाने के लिए हमारे द्वारा अपनाए जा सकने वाले तरीकों की संक्षिप्त चर्चा करेंगे।

विज्ञान क्या है? यह आम चलन है कि विज्ञान की पाठ्यपुस्तकों में विषय प्रवेश वाले अध्याय में इस सवाल से शुरुआत की जाए, उस पर कुछ अनुच्छेदों में चर्चा की जाए और फिर जल्दी ही जिसे विज्ञान की मुख्य सामग्री माना जाता है उस पर आ जाएँ : अर्थात उसके प्रयोगसिद्ध तथ्य, नियम, सिद्धान्त आदि। आमतौर पर ऐसी किताबें कहेंगी कि विज्ञान में निहित प्रमुख बातें हैं : प्रकृति का पक्षपात रहित अवलोकन करना, सावधानी पूर्वक प्रयोग करना और उनसे तर्कसम्मत निष्कर्ष निकालना। इस तरीके से हम प्रकृति के नियमों पर पहुँचते हैं। हम प्रयोगसिद्ध नियमों को समझने के लिए परिकल्पनाएँ सुझाते हैं, जिनके आधार पर आगे बढ़कर हम ज्ञात भौतिक क्रियाकलापों को समझाने के लिए विस्तृत सिद्धान्तों को निर्मित करते हैं। ये सिद्धान्त नए क्रियाकलापों का पूर्वानुमान लगाते हैं। यदि पूर्वानुमानों की पुष्टि हो जाती है तो वह सिद्धान्त स्थापित हो जाता है। विज्ञान किसी अधिकारी सत्ता के आगे नहीं झुकता, वह अवलोकनों तथा प्रयोगों से प्राप्त किया गया वस्तुपरक ज्ञान होता है।

विज्ञान की प्रकृति के इस विवरण में बहुत कुछ अर्थपूर्ण लगता है, हालाँकि जब हम इस पर आगे चर्चा करेंगे तो यह सरलीकृत प्रतीत होगा। लेकिन पहले हमें यह पूछना चाहिए कि आखिरकार विज्ञान की प्रकृति को पढ़ाना जरूरी ही क्यों है, जबकि इस विषय के उससे 'ज्यादा महत्त्वपूर्ण' हिस्सों को पूरा करने के लिए ही इतना कम समय मिलता है।

'विज्ञान की प्रकृति (नेचर ऑफ साइंस – एन.ओ.एस.)' को क्यों पढ़ाएँ?

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें रुककर इस पर विचार करना होगा कि स्कूल में विज्ञान पढ़ाने का प्रयोजन क्या है। माध्यमिक स्कूल तक भारतीय स्कूली पाठ्यक्रम के अन्तर्गत विज्ञान एक अनिवार्य विषय होता है। इस स्तर के बाद बहुसंख्यक विद्यार्थी स्कूल छोड़कर आगे की औपचारिक शिक्षा

बन्द कर देते हैं। शेष में से भी जो शिक्षा के आगे के स्तरों तक जाते हैं, उनमें से बहुत से विद्यार्थी वाणिज्य, कलाओं तथा अन्य विषयों की पढ़ाई करते हैं। अन्ततः कक्षा 10 समाप्त करने वाले विद्यार्थियों में से बहुत थोड़े ही विज्ञान के विषयों की पढ़ाई जारी रखने का विकल्प चुनते हैं। इस संख्या का और भी बहुत थोड़ा हिस्सा ही उन विद्यार्थियों का होता है जो आगे चलकर वैज्ञानिक तथा अन्य ऐसे पेशेवर व्यक्ति बनते हैं जिन्हें अपने कार्यक्षेत्र में विज्ञान और उसके उपयोगों की प्रत्यक्ष आवश्यकता होती है। इस प्रकार अधिकांश लोगों को उनके व्यवसायों में वैज्ञानिक विषयवस्तु के किसी ऐसे ज्ञान की आवश्यकता पड़ने की सम्भावना नहीं होती, जैसा कि स्कूल में सीखा या सिखाया जाता है।

फिर हमने स्कूल के स्तर पर विज्ञान की शिक्षा को अनिवार्य क्यों बनाया हुआ है? स्पष्ट है कि इसका तभी कोई मतलब होगा जब स्कूल की विज्ञान शिक्षा का मुख्य प्रयोजन कुछ व्यापक हो और वह केवल पाठ्यक्रम की खास विषयवस्तु तक सीमित न रहता हो। स्कूल की विज्ञान शिक्षा के लक्ष्यों पर अक्सर अलग–अलग विचारधाराओं के दृष्टिकोणों से अन्तहीन बहसें चलती रही हैं। लेकिन बहुत थोड़े लोग इस बात से असहमत होंगे कि उसका एक प्रमुख लक्ष्य देश में विज्ञान की जानकारी रखने वाले नागरिकों का समुदाय बनाना है। विद्यार्थियों को बड़े होकर ऐसे नागरिक बनने की जरूरत है जिन्हें इस बात का एहसास हो कि विज्ञान का दायरा क्या है, नए विज्ञान को निर्मित करने में लगने वाली विधियाँ और प्रक्रियाएँ क्या होती हैं और विज्ञान का प्रौद्योगिकी तथा समाज से क्या सम्बन्ध है। यह उत्तरोत्तर रूप से आवश्यक होता गया है क्योंकि विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी का हमारे जीने के तरीकों पर गहरा प्रभाव पड़ रहा है। नागरिकों के लिए आधुनिक प्रौद्योगिकी से, उससे सम्भावित लाभों और जोखिमों से, हमारे स्वास्थ्य और पर्यावरण पर पड़ने वाले उसके प्रभावों आदि से थोड़ा परिचित होना जरूरी हो गया है, ताकि वे इस जानकारी के आधार पर उचित विकल्पों का चुनाव कर सकें और इन मुद्दों के बारे में अपनी परिपक्व राय बना सकें। कुछ लोग तर्क देंगे कि विज्ञान ने विचारवान युग को आरम्भ किया है और यह जीवन के बारे में एक तर्काधारित वैचारिक दृष्टिकोण को प्रोत्साहित कर सकता है (हालाँकि वर्तमान में यह बहुत दूर का लक्ष्य प्रतीत होता है)। ये और इनसे जुड़े हुए बहुत से उद्देश्यों की समग्र चर्चा कभी–कभी 'विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी साक्षरता' शीर्षक के अन्तर्गत की जाती है। इस शब्द के अनेक स्वरूप प्रचलित हैं और उनके कई रुझान और बारीक भेद हैं, लेकिन शायद यह कहना गलत नहीं होगा कि विज्ञान की प्रकृति को पढ़ाने का तर्काधार स्कूली विज्ञान शिक्षा के इस व्यापक उद्देश्य से घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है।

फ्राँसिस बेकन, जिनके कार्य ने वैज्ञानिक पद्धति को स्थापित किया

क्या इसका मतलब यह है कि हम विज्ञान की 'असली' विषयवस्तु की कीमत पर विज्ञान की प्रकृति के शिक्षण को समाहित करें? ऐसा करने से क्या हम हमारे भविष्य के वैज्ञानिकों के ज्ञान की गुणवत्ता को खतरे में नहीं डालते? क्या इससे हमारा देश विज्ञान में अपनी प्रतिस्पर्धात्मक धार को नहीं खो देगा? और, आखिरकार विज्ञान की प्रकृति के शिक्षण का उन बहुसंख्यक विद्यार्थियों के लिए क्या कोई वास्तविक उपयोग होगा जिनके बारे में हम सोच रहे हैं?

ये चिन्ताएँ जो शिक्षकों (और वैज्ञानिकों) के द्वारा व्यापक रूप से महसूस की जाती हैं, स्वाभाविक हैं, क्योंकि स्कूल के विज्ञान पाठ्यक्रम में विज्ञान की प्रकृति की प्रासंगिकता और उसकी शिक्षण पद्धति के मसले अभी भी बहुत स्पष्ट नहीं हैं। पहली बात तो यह कि ऐसा सोचना सही नहीं है कि विज्ञान

ज्ञान–मीमांसा सम्बन्धी (ऐपिस्टिमिक) धारणाओं से हमारा तात्पर्य इस बारे में हमारे विचारों से होता है कि किस प्रकार से वैज्ञानिक ज्ञान की उत्पत्ति होती है और उसकी वैधता स्थापित की जाती है, अस्तित्व–मीमांसा सम्बन्धी (ऑन्टोलोजिकल) धारणाओं से हमारा मतलब मोटेतौर पर उन सभी वस्तुओं की बुनियादी श्रेणियों के बारे में हमारे विचारों से होता है जिनका कि प्रकृति में अस्तित्व होता है। उदाहरण के लिए, पारम्परिक शास्त्रीय भौतिकी कणों तथा विद्युतचुम्बकीय तरंगों (इलेक्ट्रोमैगनेटिक वेव्स) को अस्तित्व की दो स्पष्ट रूप से अलग श्रेणियाँ मानती हैं, पर यह भेद आधुनिक भौतिकशास्त्र में धुँधला हो जाता है।

की प्रकृति को समझना केवल ऊपर उल्लेख किए गए गैर–वैज्ञानिक समूहों के लिए सार्थक है, और यह कि भविष्य के वैज्ञानिकों को अपना ध्यान केवल उस अवधारणात्मक ज्ञान को हासिल करने पर केन्द्रित करने की जरूरत है जो कि उनके विषय का केन्द्रीय तत्व है। इसके विपरीत, शिक्षाविदों के बीच यह अधिकाधिक रूप से महसूस किया जा रहा है कि विज्ञान की प्रकृति को सीखना इस विषय के ज्ञान की समझ को और भी गहराई प्रदान कर सकता है। पिछले कुछ दशकों में, विज्ञान शिक्षा पर शोध करने वालों ने विद्यार्थियों की अपने विषय के बारे में उनकी ज्ञान–मीमांसा (ऐपिस्टिमिक) तथा अस्तित्व–मीमांसा (ऑन्टोलोजिकल) सम्बन्धी धारणाओं के विभिन्न स्तरों पर विस्तृत अध्ययन किए हैं। उन्होंने निष्कर्ष निकाला है कि इस विषय की पाठ्यवस्तु के बारे में उनकी आलोचनात्मक समझ पर इन धारणाओं का प्रभाव हो सकता है।

संक्षेप में, विज्ञान की प्रकृति को समझना न केवल विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी साक्षरता को बढ़ावा देने के व्यापक लक्ष्य के लिए प्रासंगिक है, बल्कि यह विज्ञान के विद्यार्थी के मन में अपने विषय के प्रति अधिक गहरी सराहना का भाव विकसित करने के लिए भी उतना ही प्रासंगिक है।

दूसरे, इसकी जो परिकल्पना है वह विज्ञान की विषयवस्तु को 'हल्का' करने की न होकर, उसे अन्य बातों के साथ–साथ विज्ञान की प्रकृति की भी शिक्षा देने के लिए कल्पनाशील ढंग से एक साधन की तरह इस्तेमाल करने की है। दूसरे शब्दों में, विज्ञान की प्रकृति की शिक्षा किताब में इसके लिए बनाई गई एक अलग इकाई में अमूर्त व्यापक सिद्धान्तों का उपदेश देने के द्वारा नहीं, बल्कि विज्ञान की विषयवस्तु के ताने–बाने में ही गूँथकर इसे उचित सन्दर्भ में सिखाया जाना है। इसे कैसे किया जा सकता है, यह देखने से पहले हमें मोटेतौर पर इस बात के लिए सहमत होना जरूरी है कि 'विज्ञान की प्रकृति' के सम्बन्ध में हमारे दृष्टिकोण क्या हैं।

विज्ञान की प्रकृति : विकसित होते दृष्टिकोण

पूरे वैचारिक इतिहास के दौरान विज्ञान की प्रकृति दार्शनिक छानबीन का विषय रही है और यह विवेचना अभी भी जारी है। जैसे–जैसे विज्ञान की प्रगति हुई है, विशेष रूप से पिछली चार सदियों में, वैसे–वैसे विज्ञान की प्रकृति के बारे में हमारे विचार भी विकसित हुए हैं। जब 16वीं तथा 17वीं शताब्दी में गैलीलियो, देकार्त, कैपलर और न्यूटन के खोज कार्यों के द्वारा आधुनिक विज्ञान को आकार दिया जा रहा था, तभी फ्राँसिस बेकन उसे प्रतिपादित कर रहे थे जिसे हम आज वैज्ञानिक पद्धति कहते हैं। मोटेतौर पर कहें तो इस लेख का प्रारम्भिक हिस्सा विज्ञान की प्रकृति के बारे में बेकन के विचारों को ही फिर से दोहराता है। बेकन के विचारों का सार यह है कि विज्ञान प्रकृति के पूर्वाग्रह रहित अवलोकनों से तर्कों तथा नियंत्रित प्रयोगों के आधार पर विकसित किया गया एक आगमनात्मक (इंडक्टिव) व्यापकीकरण है। बेकन ने अपनी दूरदृष्टि से इस नई पद्धति की प्रकृति के क्रियाकलापों का न केवल पूर्वानुमान लगाने की, बल्कि उन्हें नियंत्रित करने की ताकत को भी पहचान लिया था।

बीसवीं सदी के आरम्भ में, विज्ञान के दार्शनिकों के एक प्रभावशाली समूह ने इस वैज्ञानिक पद्धति की एक अधिक सटीक और मजबूत अभिव्यक्ति को

प्रतिपादित करने की जिम्मेदारी उठाई। संक्षेप में, वे किसी वक्तव्य या कथन को तभी अर्थपूर्ण मानते थे जब वह या तो तो अपने–आप स्पष्ट और प्रमाणित हो या उसे पुष्टि की जा सकने वाले रूप में प्रस्तुत किया जा सके। सुविधा के लिए, हम 'परमाणु', 'जीन (आनुवांशिक इकाई)', 'संयोजकता' जैसे शब्दों का इस्तेमाल कर सकते हैं, परन्तु अन्ततः सभी वैज्ञानिक कथनों को ऐसे वक्तव्यों में बदलना सम्भव होना चाहिए जिनका प्रत्यक्ष अवलोकन किया जा सके। इस कड़े मापदण्ड के अनुसार, अर्थहीन काव्य से भले ही कोई हानि न हो, लेकिन एक पराभौतिक कथन अर्थहीन और हानिकारक, दोनों होता है, क्योंकि वह सत्य होने का दावा करता है! हालाँकि इस दर्शन, जो तार्किक निश्चयवाद (लोजिकल पॉजिटिविज्म) कहलाता है (और जो अपने बाद के कुछ नरम स्वरूप में तार्किक अनुभववाद – लोजिकल एम्पिरिसिज्म – कहलाया), के प्रस्तावकों को समस्त विज्ञान को इस प्रकार से व्यक्त कर पाने की अपनी महत्त्वाकांक्षा को साकार करने में सफलता नहीं मिल सकी।

कार्ल पॉपर के दर्शन के पीछे भी वैज्ञानिक पद्धति का विश्लेषण करने की यही भावना थी, परन्तु कई दृष्टियों से उसका दर्शन तार्किक निश्चयवाद से बहुत भिन्न था। पॉपर को प्रेरित करने वाली आकांक्षा विज्ञान और छद्म या नकली विज्ञान के बीच अन्तर करने की थी। वे वक्तव्यों को झूठा साबित करने के अपने मानदण्ड (फाल्सिफिकेशन क्राइटीरियन) के लिए प्रसिद्ध हैं जो कहता है कि : कोई सिद्धान्त तब तक वैज्ञानिक नहीं होता जब तक कि उसका खण्डन करने का कोई तरीका उपलब्ध न हो। अच्छे वैज्ञानिक सिद्धान्त ऐसे दुविधारहित पूर्वानुमान देते हैं जिन्हें गलत भी सिद्ध किया जा सकता है। यदि किसी पूर्वानुमान की पुष्टि हो जाती है, तो आपने सिद्धान्त को प्रमाणित नहीं कर दिया होता है; न ही आपने केवल उसे अभी तक गलत सिद्ध नहीं किया होता है। यही वह मुद्दा है जहाँ छद्म विज्ञान भिन्न होते हैं – वे ऐसे कोई सुस्पष्ट पूर्वानुमान व्यक्त नहीं करते जिनका परीक्षण किया जा सके और जिनमें किसी अवलोकन की सुविधा हो। पॉपर की दलील थी कि 'विज्ञान को जोखिम उठाना चाहिए', साहसी पूर्वानुमान देना चाहिए और ऐसे समालोचनात्मक प्रयोग सुझाना चाहिए जिनमें किसी सिद्धान्त को गलत साबित कर सकने की सम्भावित क्षमता हो। पॉपर, आइंस्टीन के कार्य से बहुत प्रभावित थे। उनके विचार आमतौर पर वैज्ञानिकों के विचारों से मेल खाते हैं, इसलिए अक्सर उन्हें वैज्ञानिकों का दार्शनिक कहा जाता है।

इन प्रभावी विचारों की पैनी आलोचना करते हुए, 1950 के दशक के लगभग, क्वाइन ने तर्क दिया कि एक वैज्ञानिक सिद्धान्त आपस में जुड़ी ऐसी मान्यताओं और दावों का संजाल होता है जो समग्र रूप से अनुभव से सम्बन्धित होते हैं। परिणामस्वरूप, किसी सिद्धान्त के प्रत्येक वक्तव्य को अलग–थलग करके उसका परीक्षण करना या उसे गलत साबित करना सम्भव नहीं है। उन्होंने अर्थ और परीक्षण के एक सर्वांगीण सिद्धान्त की माँग उठाई।

जो दार्शनिक विचारधाराएँ विज्ञान का तार्किक आधार तलाश रहीं थीं, उन्होंने खोज की पृष्ठभूमि (उसका वह अन्तर्दृष्टि वाला सृजनात्मक चरण जो एक विशेष सामाजिक परिवेश का अंग होता है) को उसके औचित्य के सन्दर्भ (उन सिद्धान्तों का समालोचनात्मक दार्शनिक परीक्षण जिनके सही होने का दावा किया जा रहा हो) से स्पष्ट रूप से अलग रखा। पहले वाले पहलू को मनोविज्ञान/समाजशास्त्र के क्षेत्र का हिस्सा माना गया। इस भेद ने विज्ञान की कार्यप्रणाली को बहुत हद तक उनके दायरे के बाहर रखा। दूसरे शब्दों में, उनका प्रयास वास्तविक वैज्ञानिक पद्धति को निरूपित करने के बजाय यह बताने का था कि उसे क्या होना चाहिए।

1960 के दशक के आसपास, थॉमस कुह्न की (अब प्रसिद्ध हो चुकी) पुस्तक, 'द स्ट्रक्चर ऑफ साइंटिफिक रिवोल्यूशन्स (वैज्ञानिक क्रान्तियों की संरचना)' ने विज्ञान की प्रकृति के बारे में और विज्ञान की प्रगति कैसे होती है इसके बारे में हमारे विचारों में होने वाले बड़े रूपान्तर का सूत्रपात

किया। विज्ञान के इतिहास में मील के पत्थर जैसी कुछ प्रमुख उपलब्धियों (जैसे कि कोपरनिकस की क्रान्ति) का विश्लेषण करते हुए, कुह्न इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि वैज्ञानिक आमतौर पर किसी खास परिप्रेक्ष्य में काम करते हैं; वे किसी बिन्दु तक रूढ़िवादी बने रहते हैं और कुछ विसंगतियों (प्रयोग से मतभेदों) के सामने आने पर भी अपने तब के सिद्धान्तों को नहीं छोड़ते। परन्तु, जब विसंगतियाँ तीखी होती हैं और समय के साथ संचित होती जाती हैं, तब सामान्य विज्ञान में संकट उपस्थित हो जाता है और तत्कालीन परिप्रेक्ष्य पर सवाल उठाए जाने लगते हैं। उस संकट के दौरान तमाम तरह के वैकल्पिक विचार उभरने लगते हैं, जिनमें से कुछ सम्भावनाशील नए विचार एक नई आम सहमति को आकर्षित करने लगते हैं और ऐसा अक्सर कुछ प्रभावशाली प्रतिमानों के कारण होता है। इस तरह एक नया परिप्रेक्ष्य जन्म ले लेता है और सामान्य विज्ञान फिर लौट आता है, जिसमें वैज्ञानिक परिवर्तित परिप्रेक्ष्य के विस्तृत विवरणों और उसके उपयोगों को स्पष्ट करते हैं।

कुह्न के दर्शन की गौर करने लायक प्रमुख बात है कि परिप्रेक्ष्य का ऐसा परिवर्तन किसी विशुद्ध रूप से तार्किक प्रक्रिया द्वारा संचालित नहीं होता, इसमें वैज्ञानिक समुदाय के बीच बनी सामाजिक आम सहमति शामिल होती है। सामान्य विज्ञान में मौजूदा परिप्रेक्ष्य का अनुपालन हमारे कालेजों और स्नातकोत्तर शिक्षा संस्थानों में दिए गए प्रशिक्षण के द्वारा सुनिश्चित किया जाता है। पर सभी कुह्न से सहमत नहीं थे। वैज्ञानिक प्रगति के तार्किक आधार के महत्त्व को कम करने की कुह्न के विचारों में निहित प्रवृत्ति लाकोटोस को स्वीकार नहीं थी। उन्होंने अपने खुद के सिद्धान्त को प्रतिस्पर्धात्मक 'शोध कार्यक्रमों' की अवधारणा के आधार पर विकसित किया। फेयराबेन्ड ने इस विचार को ही सिरे से खारिज कर दिया कि विज्ञान के विकसित होने के तरीके में कोई सुस्पष्ट कार्यप्रणाली होती है। उनके दर्शन का सार अक्सर इस ध्यान खींचने वाली उक्ति से व्यक्त किया जाता है कि 'कुछ भी चलता है'। उनकी प्रसिद्ध किताब 'अगेन्स्ट मैथड (पद्धति के खिलाफ)' विज्ञान में सृजनात्मकता के होने का उल्लास मनाती है और कल्पना की स्वतंत्रता की वकालत करती है। इस प्रकार जहाँ कुह्न की दृष्टि से विज्ञान में निहित अव्यवस्था लाकोटोस को खतरनाक लगी, वहीं फेयराबेन्ड ने बिलकुल विपरीत कारण – उसके अनुसार वैज्ञानिक प्रगति के व्यवस्थित और यांत्रिक होने की कुह्न की धारणा – को आधार बनाकर कुह्न की आलोचना की। कुह्न की रूपरेखा में सामान्य विज्ञान की बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका थी, क्योंकि वह एक स्वीकृत परिप्रेक्ष्य में गहराई तक जाती है, जिसके कारण उन विसंगतियों को खोजना सम्भव हो पाता है, जिनके परिणामस्वरूप अन्ततः वह परिप्रेक्ष्य बदलता है। दूसरी ओर, फेयराबेन्ड सामान्य विज्ञान की दिमाग को कुंठित करने वाली बँधे–बँधाए ढर्रे की दैनिक गतिविधियों की आलोचना करते हैं। वे जोर देकर कहते हैं कि विज्ञान की प्रगति, कल्पना की ऐसी सृजनात्मक छलांगों के कारण होती है जो तत्कालीन विचारों को चुनौती देती हैं।

कुह्न के सिद्धान्त के जो भी और गुण हों, पर वह निश्चित रूप से 20वीं सदी के उत्तरार्ध में विज्ञान के दर्शन में एक समाजशास्त्रीय आयाम का समावेश करने के लिए जिम्मेदार था। दरअसल विज्ञान के सामान्य दर्शन को कुछ समाजशास्त्री अप्रासांगिक मानते थे। वे कहते थे कि हम विज्ञान की प्रकृति को केवल उस कार्यप्रणाली की समीक्षात्मक और विस्तृत जाँच–पड़ताल के द्वारा ही समझ सकते हैं जिसे वास्तव में वैज्ञानिक अपने कार्य में अपनाते हैं। यह नया बदलाव विज्ञान की प्रकृति पर चल रही बहस को कई अलग–अलग दिशाओं में ले गया है, जिनका हम पर्याप्त रूप से यहाँ वर्णन नहीं कर सकते। लेकिन अब हमारे पास निश्चित रूप से उन सामाजिक–सांस्कृतिक आदर्शों के बारे में एक बेहतर दृष्टिकोण है जो विज्ञान को विकसित होने में सक्षम बनाते हैं। उदाहरण के लिए, यह स्पष्ट दिखाई देता है कि विज्ञान की ऐसी मजबूत सामाजिक संस्थाओं का गठन (यूरोप में वैज्ञानिकों के संघ, जैसे कि रॉयल सोसायटी), जो खुले और लोकतांत्रिक विचार–विमर्श, शोध कार्यों की हमपेशा लोगों द्वारा समीक्षा और वैज्ञानिक नियमों के सामुदायिक स्वामित्व आदि

आदर्शों का पालन करती थीं, विज्ञान की प्रगति के लिए उतना ही महत्त्वपूर्ण था जितना कि अलग–अलग वैज्ञानिकों का कौशल था।

इन विचार–विमर्शों से धीरे–धीरे जो अन्तर्दृष्टियाँ निकली हैं, हम उन्हें सार रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं। पहली बात है कि विज्ञान केवल अवलोकन और प्रायोगिक जानकारी के आधार पर तार्किक विधि से हासिल किया गया ज्ञान नहीं होता, बल्कि उसमें अक्सर ऐसे कल्पनाशील और क्रान्तिकारी नए विचार भी शामिल रहते हैं जो जरूरी नहीं कि उपलब्ध प्रत्यक्ष जानकारी से सूझे हों। उदाहरण के लिए, विज्ञान के कुछ सबसे सफल सिद्धान्तों का उद्भव सरलता, समरूपता और एकीकरण की प्रेरणा के सामान्य विचारों से हुआ है। दूसरी बात है कि हालाँकि प्रकृति के अवलोकन अक्सर विज्ञान के प्रारम्भिक बिन्दु होते हैं, परन्तु सभी अवलोकन निष्पक्ष नहीं होते – वे 'सिद्धान्त से लदे हुए' होते हैं; सिद्धान्त हमें स्पष्ट रूप से या अप्रत्यक्ष रूप से हमारा मार्गदर्शन करते हैं कि हमें कहाँ जाना है और क्या प्रयोग करना या अवलोकन करना है (जरूरी नहीं कि इससे विज्ञान की वस्तुपरकता का महत्त्व कम होता हो)।

तीसरी बात है कि अवलोकन और प्रायोगिक जानकारी सही सिद्धान्त को पूरी तरह निर्धारित नहीं करते; उनकी कई अलग–अलग सिद्धान्तों के साथ संगति बैठ सकती है। चौथी बात है कि विज्ञान पूर्ण रूप से एक संज्ञानात्मक व्यवहार नहीं होता, हालाँकि यह निश्चित रूप से प्रकृति के आनुभविक तथ्यों द्वारा सीमित होता है, पर इसमें वैज्ञानिकों के बीच बनने वाली कोई सामाजिक आम सहमति भी शामिल रहती है। इसे अपनी प्रगति के लिए सहारा देने वाले सामाजिक–सांस्कृतिक आदर्शों तथा परिस्थितियों की भी जरूरत होती है। पाँचवीं बात है कि विज्ञान, प्रौद्योगिकी तथा समाज आपस में जटिल तरीकों से गुँथे रहते हैं और वे परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं तथा प्रभावित होते हैं। इस आखिरी बात से यह बात भी निकलती है कि वैज्ञानिक कार्यप्रणाली में सम्भावित भूलों और प्रौद्योगिकी के बगैर, समीक्षा के तथा अविवेकी उपयोग के हानिकारक परिणामों के प्रति हमें सजग रहना भी बेहद जरूरी है।

इस संक्षिप्त विवरण का उद्देश्य केवल इस विषय का परिचयात्मक जायजा प्रदान करना है, जाहिर है कि यह विज्ञान के दर्शन के अनेक सूक्ष्म पहलुओं को नहीं दर्शाता। उदाहरण के लिए, आप इस विषय की ज्यादा गहरी विवेचना के लिए तथा ऊपर उल्लिखित प्रसिद्ध कृतियों के सन्दर्भों के लिए गॉडफ्रे–स्मिथ की 'इंट्रोडक्शन टू फिलोस्फी ऑफ साइंस (2003)'[1] देखें।

विज्ञान की प्रकृति : क्या और कैसे पढ़ाना

यह देखते हुए कि विज्ञान की प्रगति पर हुई ऐतिहासिक बहस के बहुत से मुद्दे वर्तमान में भी जारी हैं, हमें सोचना है कि इसके बारे में स्कूली शिक्षा के अन्तर्गत विद्यार्थी क्या सीखें? जाहिर है कि हम इस विषय के जटिल दार्शनिक मुद्दों को हमारी कक्षाओं में नहीं ला सकते। इस बात पर काफी विचार किया गया है। आम भावना यह है कि विभिन्न दृष्टिकोणों के बड़े दायरे के बावजूद, विज्ञान की प्रकृति के सम्बन्ध में सामान्य रूप से स्वीकृत कुछ ऐसे नए केन्द्रीय विचार हैं जिन्हें कक्षाओं में सीखा जा सकता है। हम इसके लिए अमेरिका में विकसित न्यू जेनरेशन साइंस स्टैंडर्ड्स (NGSS, 2013)[2] को देखने की अनुशंसा करते हैं। निश्चित रूप से, अन्य स्थानों में भी इनके ही जैसे उद्देश्यों की वकालत की गई है, उदाहरण के लिए देखें पम्फे (1991)[3], ऑस्बोर्न इत्यादि (2002)[4], और साथ ही टेलर एवं हंट (2014)[5]। इस विषय पर और भी अधिक गहरे दृष्टिकोण के लिए एरडुरान एवं डेघर की किताब (2014)[6] देखें। हमारी दृष्टि में इस बारे में मोटेतौर पर जो आम सहमति बनी है, उसे हम यहाँ सार रूप में दे रहे हैं। विज्ञान की प्रकृति की और विस्तृत जानकारी ऊपर उल्लिखित किताबों से हासिल की जा सकती है।

विज्ञान की प्रकृति के उद्देश्य (सार)

दायरा

विज्ञान अनुभव से प्राप्त होने वाले प्रमाणों के आधार पर भौतिक संसार का वर्णन करने और

उसकी व्याख्या करने का प्रयास करता है। कुछ क्षेत्र इसके दायरे के बाहर हो सकते हैं।

कार्यप्रणालियाँ

विज्ञान विभिन्न प्रकार के दृष्टिकोणों और कार्यप्रणालियों को अपनाता है, विज्ञान की कोई सब जगह लागू होने वाली एक कार्यप्रणाली नहीं होती।

विज्ञान केवल अनुभवों और अवलोकनों से नहीं निकलता। नई परिकल्पनाओं को जन्म देने और सिद्धान्तों को निर्मित करने में सृजनात्मकता और कल्पना भी समान रूप से महत्त्वपूर्ण होती है।

अक्सर किसी सिद्धान्त को निर्धारित करने के लिए अवलोकन तथा अनुभव ही पर्याप्त नहीं होते।

विज्ञान में केवल तार्किक निगमनात्मक निष्कर्ष ही नहीं बल्कि विशेषज्ञों के निर्णय भी शामिल रहते हैं।

सामाजिक पहलू

विज्ञान एक सहकारी बहु–सांस्कृतिक उद्यम है जिसमें असंख्य पुरुष और महिलाएँ अपना योगदान देते हैं। इनमें कुछ ऐसे विशिष्ट व्यक्ति होते हैं जो बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। खुली बहस, सहकर्मियों द्वारा समीक्षा और ज्ञान के साझा स्वामित्व के आदर्शों का पालन करने वाली सामाजिक संस्थाएँ इसके विकास के लिए बेहद जरूरी होती हैं।

विज्ञान और प्रौद्योगिकी के परिणामस्वरूप ऐसे मुद्दे सामने आ सकते हैं जिनका समाधान सामाजिक–सांस्कृतिक ढंग से किए जाने की जरूरत हो सकती है।

वैज्ञानिक ज्ञान

यह गतिशील होता है और नए अनुभवजन्य साक्ष्यों के आधार पर इसे संशोधित करना पड़ सकता है।

अन्त में हम सबसे महत्त्वपूर्ण किन्तु कठिन प्रश्न पर आते हैं, कि विज्ञान की प्रकृति को पढ़ाने के लिए क्या शिक्षण पद्धति अपनाई जाना चाहिए? यह धारणा नई नहीं है कि विज्ञान की शिक्षा में अकेली उसकी विषयवस्तु काफी नहीं है, जैसा कि 1960 के दशक से (और उसके पहले से भी) हो रहे पाठ्यक्रम के सुधारों के इतिहास से भी विदित होता है। 1970 के दशक के आसपास, कुछ शैक्षणिक सुधारों ने तो विज्ञान की विषयवस्तु से ज्यादा उसकी प्रक्रियाओं – अवलोकन करना, मापन करना, विश्लेषण करना, निहितार्थ निकालना, समझना, प्रयोग करना, पूर्वानुमान लगाना, सम्प्रेषण करना आदि पर जोर दिया। जल्दी ही इस दृष्टिकोण की आलोचनात्मक समीक्षाएँ होने लगीं। कुछ शिक्षाविदों ने इस बुनियादी मान्यता पर ही सवाल उठाए कि एक परिप्रेक्ष्य से दूसरे परिप्रेक्ष्य में स्थानान्तरित की जा सकने वाली, ऐसी सामान्य प्रक्रियाओं का कोई समूह होता है जो विज्ञान के सभी विषयों में साझा तौर पर लागू होती हों। उदाहरण के लिए, मिलर एवं ड्राइवर (1987)[7] की टिप्पणियाँ देखें। अभी कुछ समय सेज को सीखने और सिखाने के लिए एक खोजबीन–आधारित पद्धति के पक्ष में व्यापक सहमति बनती हुई दिखाई देती है। इसमें सन्देह नहीं कि इस रचनावादी दर्शन से प्रभावित इस पद्धति में ऊपर बताई गई विज्ञान की प्रक्रियाएँ निहित होती हैं, लेकिन यह उनसे और भी आगे जाती है और सवाल पूछने, समीक्षात्मक ढंग से विचार करने, प्रमाण–आधारित उत्तर देने, उनकी वैधता साबित करने, और उन्हें मौजूदा वैज्ञानिक ज्ञान से जोड़ने आदि को भी शामिल करती है। बुनियादी रूप से यह पद्धति विज्ञान को ऐसे तरीके से सीखने की वकालत करती है जो उस तरीके के ही समान होता है जिस तरह वैज्ञानिक अपने प्रयोगों पर काम करते हैं।

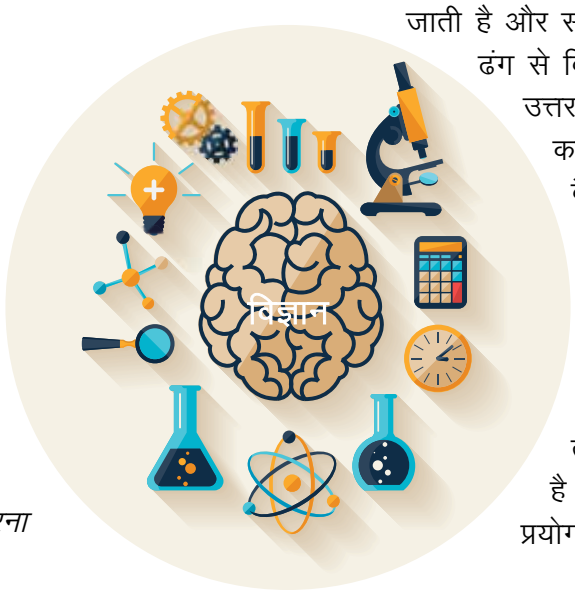

स्वाभाविक है कि छोटे बच्चों को दिए जाने वाले खोजबीन के काम अपेक्षाकृत सरल होते हैं, और अधिक परिपक्व विद्यार्थियों के लिए काफी जटिल और विस्तृत होते हैं, लेकिन उनमें जो एक विशेषता समान होती है, वह है कोई प्रश्न पूछना और उसके प्रमाण–आधारित समाधान और व्याख्या की खोज करना। उनके ध्यान के केन्द्र अलग–अलग हो सकते हैं, उनमें से कुछ विज्ञान, प्रौद्योगिकी तथा समाज से जुड़े मुद्दे हो सकते हैं, जबकि अन्य इस विषय से ही अधिक सम्बन्धित हो सकते हैं। खोजबीन की प्रक्रिया में खोजबीन के तरीके पर भी सवाल उठाए जा सकते हैं और इस तरह वह सहज ही विज्ञान की प्रकृति सिखाने के उद्देश्यों को समाहित कर लेती है। हम पाठकों को फ्लिक एवं लैडरमैन (2006)[8] की किताब में खोजबीन की पद्धति के और विज्ञान की प्रकृति से उसके सम्बन्ध के समालोचनात्मक विवरण को देखने का सुझाव देते हैं।

एक अन्य पद्धति, विज्ञान की प्रकृति के शिक्षण के लिए विज्ञान के इतिहास को एक साधन की तरह इस्तेमाल करती है। यह भी कोई नया विचार नहीं है, इस बारे में होल्टन एवं ब्रश (2001)[9] की बहुत बढ़िया किताब को देखें। इस पद्धति के पक्ष में कुछ प्रमुख बातें ये मानी जाती हैं – विज्ञान के इतिहास में मनुष्यों की गाथाएँ होती हैं, जो विज्ञान को जीवन्त बना देती हैं और विद्यार्थियों में रुचि बनाए रखती हैं, उसमें अक्सर विद्यार्थियों की स्वस्फूर्त अवधारणाओं से समानताएँ मिलती हैं और इस तरह वह पूर्वानुमान लगाने और विषयवस्तु तक सीमित उनके विचारों को संशोधित करने में सहायक होती है। यह जानना कि वर्तमान विज्ञान किस तरह इतिहास के विभिन्न कालों में प्रतिस्पर्धी विचारों से निकला, उनमें आलोचनात्मक सोच को बढ़ावा दे सकता है और आखिर में विज्ञान की प्रकृति को सीखने के लिए विज्ञान का इतिहास सबसे स्वाभाविक परिप्रेक्ष्य होता है। हम पाठकों को इस मुद्दे पर हाल ही में निकाली गई हैण्डबुक (मैथ्यूज 2014)[10] को देखने का सुझाव देते हैं।

जैसा कि लैडरमैन (2006)[11] ने जोर देते हुए तर्क दिया है, विज्ञान की प्रकृति सिखाने के उद्देश्यों को मुख्य रूप से ऐसे संज्ञानात्मक परिणामों की तरह देखा जाना चाहिए जिनको उचित ढंग से आँका जा सके। शिक्षण में इन उद्देश्यों को स्पष्ट रूप से दर्शाए जाने की जरूरत है, क्योंकि इसकी सम्भावना कम है कि वे अपने–आप निहितार्थ से आत्मसात कर लिए जाएँगे, चाहे हम खोजबीन वाली पद्धति अपनाएँ या इतिहास पर आधारित पद्धति अपनाएँ। यदि हमारा लक्ष्य विज्ञान की प्रकृति के बारे में विद्यार्थियों की समझ में सुधार करना है, तो खोजबीन के लिए दिए जाने वाले कार्यों और विज्ञान के इतिहास से ली गई ऐसी रोचक कथाओं, जो स्पष्ट रूप से विज्ञान की प्रकृति पर केन्द्रित हों, का एक परिपूर्ण संग्रह विकसित किया जाना जरूरी है।

आभार

मैं HBCSE(TIFR) के जे. रामदास, एस. चूनावाला, के. सुब्रमनियम को तथा कई अन्य समीक्षकों को इस लेख को आलोचनात्मक तरीके से देखने और इसमें सुधार के लिए उपयोगी टिप्पणियाँ देने के लिए धन्यवाद देते हुए आनन्दित हूँ।

Reference

1. Introduction to Philosophy of Science. Godfrey-Smith P. (2003). Chicago. The University of Chicago Press.
2. Next generation science standards: For states, by states. NGSS (2013). Appendix H www.nextgenscience.org
3. History of science in the National Science Curriculum: a critical review of resources and their aims. Pumfrey, S. (1991). British Journal of the History of Science. 24, 61–78.
4. EPSE Project3 Teaching pupils 'ideas-about-science'. Osborne, J., Ratcliffe, M., Bartholomew, H., Collins, S. & Duschl, R. (2002b). School Science Review, 84 (307), 29–33.
5. History and Philosophy of Science and the Teaching of Science in England. Taylor J.L. and Hunt A. (2014). Matthews M.R. (ed.) op.cit. 2045-2082.
6. Reconceptualizing the Nature of Science for Science Education. Erduran S. & Dagher Z.R (2014). Dordrecht, Netherlands. Springer.
7. Beyond processes. Millar, R. & Driver, R. (1987). Studies in Science Education, (14) 33–62.
8. Scientific Inquiry and Nature of Science. Flick L.B. and Lederman N.G. (eds.) (2006). Dordrecht,

Netherlands. Springer.

9. Physics, the Human Adventure. Holton G. and Brush S.G. 3rd ed. (2001). New Brunswick. NJ. Rutgers University Press.

10. International Handbook of Research in History, Philosophy and Science Teaching. Matthews M.R. (ed.) (2014). Dordrecht, Netherlands. Springer.

11. Syntax of Nature of Science within Inquiry and Science Instruction. Lederman N.G. (2006). In Flick L.B. and Lederman N.G. (eds.) (2006) op.cit, 301-317.

अरविन्द कुमार *जो पहले मुम्बई के होमी भाभा सेण्टर फॉर साइंस एजुकेशन (टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ फण्डामेंटल रिसर्च) में कार्यरत थे, अब मुम्बई के सेण्टर फॉर बेसिक साइंसेज में पढ़ाते हैं। उनकी मुख्य अकादमिक रुचियाँ सैद्धान्तिक भौतिकशास्त्र, भौतिकशास्त्र की शिक्षा, तथा विज्ञान शिक्षण में विज्ञान के इतिहास और दर्शन की भूमिका हैं। लेखक से arvindk@hbcse.tifr.res.in पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद :** सत्येन्द्र त्रिपाठी*

अपान वायु : सावधान!

अपान वायु वह गैस होती है जो हमारे पाचन तंत्र में, विशेष रूप से पेट तथा आँतों में, पाचन क्रिया के दौरान पैदा होती है और फिर मल द्वार से बाहर निकाली जाती है। मनुष्य की अपान वायु का 99% से भी अधिक नाइट्रोजन, आक्सीजन, हाइड्रोजन (पाचन मार्ग में मौजूद हाइड्रोजन का उपभोग करने वाले जीवाणु इसमें से कुछ को खर्च करके मीथेन तथा अन्य गैसें बना सकते हैं), कार्बन डाईआक्साइड और मीथेन से मिलकर बना होता है।

दूसरे विश्व युद्ध के दौरान, अमेरिका के लड़ाकू विमान अत्यधिक ऊँचाईयों पर उड़ते थे। अधिक ऊँचाई के परिणामस्वरूप (बाहर के) वायुमण्डल के दबाव में कमी हो जाती थी जिसके कारण विमान चालकों के आँतों में फँसी पाचन की गैसें फैलती थीं (ब्वॉयल के नियम के अनुसार), जिससे उन्हें दर्द भरी मरोड़ का अनुभव होता था। इसलिए ऐसे खाद्य पदार्थ जिनमें अपान वायु पैदा करने की क्षमता होती है (सूखी फलियों के दाने (बीन्स) तथा मटर, पत्ता गोभी परिवार की सब्जियाँ, कार्बन डाईआक्साइड घुले हुए (कार्बोनेटेड) पेय और बीयर आदि) चालकों के आहार से हटा दिए गए।

मीथेन एक ज्वलनशील गैस है (अर्थात वह बुंसेन बर्नर के लिए अच्छा ईंधन होती है), हालाँकि वह पश्चिमी जगत के केवल लगभग एक–तिहाई लोगों द्वारा पैदा की जाती है। अन्तरिक्ष यात्रा की स्पर्धा के प्रारम्भिक दौर में इसे लेकर कुछ चिन्ता जताई गई थी, कि अन्तरिक्ष यान चालकों के द्वारा उत्सर्जित मीथेन, यदि भूल–चूक से दुर्घटनावश प्रज्वलित हो जाए, तो उससे अन्तरिक्ष यान के भीतर विस्फोट हो सकता था। परन्तु आज तक ऐसी कोई घटना नहीं घटी है।

परन्तु अपान वायु में दुर्घटनावश हुए विस्फोट के कारण कम से कम एक शल्यचिकित्सा के मरीज की मृत्यु तो हुई है। उस मरीज की बड़ी आँत के मलाशय (कोलन) वाले भाग से एक इलेक्ट्रोड छू गया और उससे मलाशय में मौजूद हाइड्रोजन तथा मीथेन प्रज्वलित हो गईं। इस दुर्घटना में शल्य चिकित्सक भी विस्फोट के धक्के से कमरे की दीवार से जा टकराया।

द्वारा गीता अय्यर, स्रोत : साइंस एजुकेशन रिव्यू, वॉल्यूम 3 (2004), पृ.111–112 www.scienceeducationreview.com से उनकी अनुमति पुनर्मुद्रित किया गया।

गीता अय्यर *एक स्वतंत्र सलाहकार हैं, जो कई स्कूलों के साथ पाठ्यक्रम निर्मित करने के काम में और साथ ही विज्ञान एवं पर्यावरण शिक्षा के क्षेत्र में भी संलग्न हैं। पहले वे ऋषि वैली स्कूल में शिक्षक थीं और फिर पुणे के निकट सहयाद्री स्कूल (के.एफ.आई.) की प्रमुख रहीं। उन्होंने शिक्षा तथा पर्यावरण के क्षेत्रों में विभिन्न विषयों पर विस्तृत लेखन किया है। उनसे scopsowl@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद :** सत्येन्द्र त्रिपाठी*